सामयिक प्रकाशन

समाज और इतिहास

नवीन शृंखला

2

सिनेमा और इतिहास लेखन : संबंध और संभावनाएं

अनिरूद्ध देशपांडे

नेहरू स्मारक संग्रहालय एवं पुस्तकालय

2013

NMML Occasional Paper

Intial page____Fnl.pmd 1 11/6/2013, 11:21 AM

नेहरू स्मारक संग्रहालय एवं पुस्तकालय

© अनिरूद्ध देशपांडे, 2013
सर्वाधिकार सुरक्षित। लेखक की लिखित अनुमति के बिना इस प्रकाशन के किसी भी अंश का दोबारा प्रयोग, पुनरोत्पादन किसी भी रूप में नहीं किया जा सकता। इसमें व्यक्त विचार, अर्थनिर्धारण तथा निष्कर्ष पूर्णतः लेखक के हैं और किसी भी तरह, पूर्णरूपेण अथवा अंशतः, नेहरू स्मारक संग्रहालय एवं पुस्तकालय के विचारों को नहीं दर्शाते।

प्रकाशक :

नेहरू स्मारक संग्रहालय एवं पुस्तकालय
तीन मूर्ति भवन
नई दिल्ली–110011

ई मेल : ddnehrumemorial@gmail.com

आईएसबीएन : 81-87614-93-5

मूल्य रूपये 100/- ; यूएस $ 10

पृष्ठ सज्जा और मुद्रण : ए.डी. प्रिंट स्टूडिओ, 1749 बी/6, गोविन्द पुरी, एक्सटेंशन कालकाजी, नई दिल्ली–110019. ई.मेल : studio.adprint@gmail.com

सिनेमा और इतिहास लेखन : संबंध और संभावनाएं

अनिरूद्ध देशपांडे**

कुछ लिखने की प्रक्रिया में संदर्भ के बाहर शायद कुछ भी नहीं होता और हर लेख या किताब का इतिहास उसके लेखक के माजी (निजी इतिहास) और हाल से जुड़ा होता है। इसलिए एक भारतीय शोधकर्ता, मार्क्सवादी समाज शास्त्री और इतिहासकार के नज़रिये से मैंने यह लेख क्यों लिखा, आपको बताना चाहता हूँ। बात सन् 2000 की है जब मैंने दिल्ली के तीन मूर्ति भवन में मौजूद नेहरु स्मारक संग्रहालय और पुस्तकालय के समसामयिक अध्ययन केंद्र में एक फेलोशिप की अर्जी डालने के प्रयास शुरू कर दिए। इससे पहले दिल्ली के जवाहरलाल नेहरु विश्वविद्यालय (जे.एन.यू) के सेंटर फॉर हिस्टोरिकल स्टडीज (सी.एच.एस.) से इतिहास में पी.एच.डी. करने के बाद, जैसे अक्सर होता है, मैं कुछ शोध संस्थानों और गैर सरकारी संस्थाओं में काम कर चुका था। सन 2000 में, बतौर राष्ट्रीय सलाहकार इतिहासकार, आधुनिक भारत में अफीम की खेती और अफीम के व्यापार व उत्पादन पर राज्य नियंत्रण के इतिहास पर एक लघुकालीन प्रोजेक्ट संयुक्त राष्ट्र के लिए भी कर रहा था। हालाँकि यह विषय मेरे शोध अनुभव से काफी दूर था लेकिन ज़ाती और पारिवारिक मजबूरियों की वजह से मुझे यह काम करना पड़ा। यह बात और है कि अफीम पर शोध करते हुए मेरी उस विषय में दिलचस्पी जागी और बाद में *स्टडीज इन हिस्ट्री* में मैंने इसी विषय पर एक शोध पत्र भी छापा (2009)। अक्सर पी.एच.डी के बाद किये गये यह सारे काम मेरी मूल इतिहास रुचियों से काफी दूर हुआ करते थे लेकिन तारीख़ गवाह है कि बेरोज़गारी के सामने नामी महारथी भी घुटने टेक देते हैं। किसी ने सच ही कहा है, डूबता आदमी तिनका तो छोड़ो तलवार की नोक तक पकड़ लेता है! कहना मुश्किल है कि इस मशक्कत से मैंने हिन्दुस्तानी समाज शास्त्र को आगे बढ़ाया या नहीं लेकिन सारा तजुर्बा खुशगवार रहा। उस राहे मजबूरी में जो ना भूलने वाले सबक सीखे वे हमेशा याद रहेंगे। कम–से –कम, एक ज़माना बीत जाने के बाद, आज तो ऐसा लगता है।

---

* 21 अक्तूबर 2013 को नेहरु स्मारक संग्रहालय एवं पुस्तकालय, नई दिल्ली, में दिए गए व्याख्यान का संशोधित संस्करण।

** अनिरूद्ध देशपांडे, नेहरू स्मारक संग्रहालय एवं पुस्तकालय में फेलो रह चुके हैं और वर्तमान में वे दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, के इतिहास विभाग में असोसिएट प्रोफेसर हैं।

यह बात समझने में काफी वक्त लगा कि बेरोज़गारी का अक्सर व्यवस्था के साथ, हमारी ज़ाती पसंद और नापसंद से भी गहरा ताल्लुक हो सकता है। मोटे और व्यापक तौर पर पूंजीवादी शहरी व्यवस्था बेरोजगारी के लिये जिम्मेदार होती है लेकिन अपवाद के रूप में व्यक्तिगत सोच का भी इस समस्या से गहरा रिश्ता हो सकता है। जरूरी नहीं कि जो आपके लिए ठीक हो वह आपको अच्छा लगे और यह भी जरूरी नहीं कि समाज आपकी पसंद को सर आखों पर रखे। सपने और आदर्श आम तौर पर हमें असलियत से दूर ले जाते हैं और उस कसौटी के प्रति उदासीन रखते हैं जिस पर समाज सफलता की पहचान करता है। जवांमर्दी नहीं समझती कि सामाजिक प्रवाह के प्रतिकूल तैरने के परिणाम अक्सर बेहद भयंकर हो सकते हैं। चाहता तो कॉलेज खत्म करने के तुरंत बाद, ज्यादा समझदार दिखने वाले अन्य दोस्तों की तरह, सिविल सर्विस की किसी न किसी शाखा में दाखिल हो जाता। अगर ऐसा करता तो शायद अपने एक कॉलेज के दिनों के सहपाठी की जगह विश्वविद्यालय में पढ़ाने के बजाय उसके विभागों को निर्देश भरे पैग़ाम लिख रहा होता! शायद मन ही मन माँ–बाप चाहते थे कि मैं सिविल सर्विस में चला जाऊं लेकिन उन्होंने कभी जोर नहीं दिया। जबरदस्ती न करने के लिए और अपनी राह पर चलने से ना रोकने के लिए मरहूम वालिदैन का शुक्रिया अदा करने के लिए मेरे पास अल्फाज़ नहीं हैं। उन्होंने आधुनिक न होते हुए भी मुझे गलती करने से कभी नहीं रोका और यह लेख कुछ हद तक उन गलतियों का ही परिणाम है। बेशक, सीधे रास्ते ऊपर की तरफ नहीं जाते।

वह भी क्या जमाना था। हम लोगों की रगों में रात दिन बगावत फड़कती थी। मन में क्रांति के विचार भरे हुए थे और दिमाग पर क्रांतिकारी मार्क्सवाद का भूत सवार था इसलिए जवानी के सपने साकार करने के लिए जवाहरलाल नेहरु विश्वविद्यालय में एम.ए. करने चला गया। उस वक्त सोचा न था कि वहाँ से जो सफर शुरू हुआ इतना लंबा और टेढ़ा मेढ़ा होगा। ठान लिया कि इतिहास अगर सीखना था तो सिर्फ उस मंदिर के वामपंथी पुजारियों से! सन् 1980 के बीच का दौर था और नव वामपंथ के साथ–साथ समाज शास्त्र पर भाषा विज्ञान और पोस्ट स्ट्रक्चरलिज़्म का गहरा असर पड़ता जा रहा था। एक तरफ सोवियत संघ की मुश्किलें बढ़ रहीं थी और उसका पतन शुरू हो चुका था और दूसरी तरफ वैश्वीकरण अंतर्राष्ट्रीय पूंजीवाद को नया जीवन प्रदान कर रहा था। चीन में भी, माओ के निधन पश्चात, महत्वपूर्ण बदलाव आ रहे थे। यूरोप और अमेरिका के विश्वविद्यालयों में गैर मार्क्सवादी या मार्क्सवाद विरोधी होना नया

बुद्धिजीवी फैशन बनता जा रहा था। भाषाविद् और उत्तर आधुनिकतावादी बुद्धिजीवी इतिहास का खंडन करने में जुट गए थे लिहाजा तारीख के वजूद को खतरनाक चुनौतियों का सामना करना पड़ रहा था। जब तक मैंने पी.एच.डी. शुरू की, ऐतिहासिक शोध का रुझान पहले जैसा नहीं रह गया था। इतिहासकार के लिए प्राथमिक स्रोतों के आधार पर सच की व्याख्या करना उतना आसान नहीं था जितना हमें कक्षाओं में समझाया गया था। इतिहास लेखन उन्नीसवीं सदी में दिखाए गए जर्मन इतिहासकार लिओपोल्ड फोन रांके के तौर तरीकों और 20वीं सदी में लिखे गए इतिहासकार के 'इतिहास क्या है?' से कोसों आगे निकल चुका था। दूसरे विश्व युद्ध के कुछ वर्षों बाद मार्क्सवादियों में सोवियत संघ और स्टालिन की नीतियों की बढ़ती आलोचना की वजह से मार्क्सवादी इतिहास लेखन में भी महत्वपूर्ण बदलाव आ चुके थे। हंगरी (1956) और चेकोस्लोवाकिया (1968) पर हुए सोवियत संघ के हमलों और पश्चिमी देशों में हुए विद्यार्थी विद्रोहों (1968) ने अनेक देशों में इतिहास लेखन को नया मोड़ दिया और समाज शास्त्र को आवामी तारीख़ लिखने के नए तौर तरीके प्रदान किये। तारीख लेखन के अंतर्राष्ट्रीय युद्ध भूमि पर एक नए और बड़े युद्ध की तैयारियाँ पूरी हो चुकीं थीं। एक तरफ नव वामपंथ, पार्टी लाइन से अलग, एक तरोताजा लोकप्रिय इतिहास लिखने के तौर तरीके जुटा रहा था तो दूसरी तरफ समाज शास्त्र की दुनिया में मार्क्सवाद के अंत की घोषणा की जा रही थी। सिनेमा अध्ययन और सिनेमा का उभरता इतिहास इन दोनों पक्षों के बीच कहीं ठहरे हुए मालूम होते थे।

1980 और 1990 के दशकों में जहां समाज शास्त्र पर सांस्कृतिक अध्ययन (Cultural studies) और उत्तर आधुनिकतावाद (Postmodernism) भारी पड़ रहा था, मेरी पी.एच.डी., और उससे पहले एम.फिल. औपनिवेशिक काल में भारतीय सैन्य व्यवस्था पर लिखी गयी थी। तब से सिर पर मिलिटरी इतिहासकार का ठप्पा लिए घूम रहा हूँ। लाख कोशिशें की लेकिन दाग धुंधला तो हुआ पर मिटा नहीं। मिलिटरी इतिहासकार नामक जानवर क्या होता है कभी समझ नहीं पाया लेकिन इतना जरूर जानता हूँ कि जिंदगी में कई दरवाजे तो बेशक इसी वजह से बंद हो गए होंगे! उन दिनों एक तरफ यूरोप और अमेरिका में जोर पकड़ते हुए बुद्धिजीवी फैशन मानो इतिहास लेखन के अस्तित्व को चुनौती दे रहे थे तो दूसरी तरफ भारत के अधिकांश इतिहास विभाग 19वीं शताब्दी में विकसित हुए पेशेवर इतिहास लेखन पद्धति की इबादत में जुटे हुए थे। लिहाज़ा अधिकांश हिन्दुस्तानी इतिहासकार मानते थे कि सिनेमा जैसे 'हल्के' विषय समाज शास्त्र

के लिए ठीक थे। क्योंकि इन विषयों का प्राथमिक स्रोतों में मौजूद तथ्यों से सीधा संबंध नहीं नज़र आता था। ठेठ इतिहासकार इनसे परहेज करते थे। जे.एन.यू. की स्थिति रुढ़िवादी मार्क्सवाद और उत्तर आधुनिकतावाद की धुरियों के बीच में कहीं थी। कुछ प्रोफ़ेसर पुराने मार्क्सवाद और राष्ट्रवाद में फंसे हुए थे – भारत की संसदीय मार्क्सवादी पार्टियों और कांग्रेस से इनकी दोस्तियाँ बहुत पुरानी थीं। इनका मार्क्सवाद सत्ता की छाँव में, लोगों के संघर्षों से महफूज़, दिल्ली से भी दूर अरावली पहाड़ियों में लाल ईटों से बनी और क्रांतिकारी पोस्टरों से ढकी इमारतों में पनपता था। यह कहना अनुचित न होगा कि उन इज्ज़तदार इतिहासकारों के बहुत से उत्तराधिकारी आज भी वैसे ही हैं। भविष्य में कुछ अवसरवादी लोग, जिनमे प्रसिद्ध तथाकथित मार्क्सवादी विद्वानों के पुराने छात्र मौजूद थे, पूरी तरह पथ भ्रष्ट हो गए। सुनने में आया कि इन में से कुछ, जो अपने आप को 'फ्री थिंकर' कहा करते थे, बाद में सांप्रदायिक शक्तियों से भी जा मिले। ऐसे में शोध छात्रों को सही सलाह कहाँ से मिलती? जो दोस्त चालाक थे सिविल सर्विस में चले गए या प्रोफेसरों के घरों की सफेदी और उनके बच्चों की ट्यूशन करते हुए स्थायी लेक्चररशिप पाने में सफल हुए। मेरी हालत वाकई खराब थी। देखने में मेरे शोध विषय 19वीं सदी के मालूम होते थे–एकदम शुद्धतारीख लिखने के माकूल। एक तो तारीख में पी.एच.डी. और ऊपर से ऐसा स्वयं विध्वंसक शीर्षक! बाजार, सॉफ्टवेयर और मैनेजमेंट के जमाने में बेरोजगार रहने का इससे बेहतर फ़ार्मूला ढूँढना मुश्किल था। करेला और वो भी नीम चढ़ा – सोचिये मेरी क्या हालत हुई होगी। वे दिन याद आते हैं जब वैश्वीकरण और उदारीकरण के भोर में पड़ोसी और मित्र मेरी शोध रूचि के बारे में सुनकर मुस्कुराते थे। जरूर सोचते होंगे, ज़माने में सरफिरे कम नहीं मिलते। उन दिनों अक्सर महसूस करता था कि इतिहास पढ़ते और लिखते हुए कहीं एक दिन खुद ही इतिहास के पन्नो में भूला हुआ फुटनोट न बन जाऊं।

तब से अब तक समाज बहुत ज्यादा बदला नहीं है। भारत में समाज शास्त्र, और खास तौर पर इतिहास, का हाल खस्ता होता जा रहा है। सरकारी नीतियां शिक्षा के क्षेत्र में निजीकरण को निरंतर बढ़ावा दे रहीं हैं और निजी खिलाड़ी एक खास किस्म के विज्ञान और तकनीक के भूखे हैं, उन्हें आलोचनात्मक समाज शास्त्र से कोई सीधा लाभ प्राप्त नहीं होता। फायदा होता है ऐसे विषयों से जो पूंजीपति वर्ग के मैनेजमेंट संबंधी कार्यों को आसान बना दे। कॉर्पोरेट पूँजीवाद सपने दिखाना पसंद करता है, सवाल उठाना नहीं। यह व्यवस्था अंग्रेजी और

अंग्रेजियत की भूखी है लेकिन अंग्रेजी भाषा में मौजूद विशाल आलोचनात्मक साहित्य की इसे जरुरत नहीं है। आज का अधिकांश मीडिया जिस तरह काम करता है, वह इस बात का सबूत है। इधर सुना है आजकल मानविकी के कुछ विषयों कि मांग, निहित कॉर्पोरेट स्वार्थ की वजह से, बाजार में बढ़ रही है लेकिन इतिहास शायद उन में नहीं है। इतिहास के फल कड़वे होते हैं। उन्हें चखने, बेचने और खरीदने वाले कम लोग होते हैं। इतिहासकार विचारधारा की दावत का मज़ा किरकिरा कर देते हैं। लेकिन इतिहास की समकालीनता से कोई बच नहीं सकता–सब कुछ इतिहास से जुड़ा है। जाहिर है अगर पितृसत्ता, माओवाद और इस्लाम खतरे के तौर पर देखे जाते हैं तो उन्हें समझना जरूरी है। आज, 1950 और 60 के दशकों की तुलना में, साम्यवाद की कमजोरी के बावजूद दुनिया में आजादी और लोकतंत्र कम है। दूसरे विश्व युद्ध के बाद जिन देशों ने खुले समाज के गठन की जिम्मेदारी ली थी आज वही देश स्वतंत्र विचारों और आलोचना के अधिकार के सबसे बड़े दुश्मन नज़र आते हैं। इतिहास पढ़े बिना कोई नहीं समझ सकता कि हम इस मुकाम पर क्यों और कैसे पहुंचे। दूसरी ओर यह भी समझना जरूरी है कि वैश्वीकरण के ज़रिये जो सपने हमें नेताओं और उनके सहयोगी अर्थशास्त्रियों ने दिखाए थे वह अभी तक साकार क्यों नहीं हुए? सही मायने में ढंग से पढ़ा जाने वाला, और आलोचनात्मक ढंग से पढ़ाया जाने वाला, इतिहास और समाज शास्त्र निजी खिलाड़ियों और उनकी मित्र सरकारों के लिए एक चुनौती है जिसे वे स्वीकार नहीं करना चाहते। इतिहास का मकसद होता है सत्ता और लोगों के समक्ष सत्य को पेश करना। सत्ता चाहती है कि लोग इतिहास या तो भूल जाएँ या एक खास किस्म का इतिहास याद रखें जो सत्ता को फायदा पहुँचाये। प्रसिद्ध फलिस्तीनी आलोचक एडवर्ड सयेद ने ठीक कहा था – इतिहास का काम है सत्ता को सच सुनाना। दूसरी तरफ विंस्टन चर्चिल जैसे प्रतिक्रियावादी और नस्लवादी टोरी का कहना था कि इतिहास की बातें हमें भविष्य का रास्ता नहीं दिखातीं। चर्चिल चाहते थे की दूसरे विश्व युद्ध के बाद दुनिया भर के लोग उपनिवेशवाद का इतिहास भूल जाएँ और साम्राज्यवाद के यथार्थ से समझौता कर लें। दूसरे विश्व युद्ध का इतिहास लिखने वाले चर्चिल ने युद्ध के कुछ ही दिनों बाद लोगों को इतिहास भूल जाने की सलाह दी। सच ही तो है – साम्राज्यवाद और इतिहास एक साथ भोजन नहीं कर सकते। आप समझ सकते हैं चर्चिल ने दूसरे विश्व युद्ध का कैसा इतिहास लिखा होगा।

ऊपर दिए गए कारणों की वजह से ज्यादा धन और सहूलियतें उन शिक्षा

क्षेत्रों में जातें हैं जिनसे बड़े पूंजीपतियों को फायदा पहुँचता है और मध्यम वर्ग को सेवाएं हासिल होतीं हैं। अर्थशास्त्र और मैनेजमेंट जैसे विषयों की सामाजिक प्रतिष्ठा और लोकप्रियता के पीछे यही मुख्य कारण है। समाज में सत्ता और पूँजी का काम मध्यम वर्ग के लोग करते हैं। इस काम में पूँजी, व्यवस्था और पितृसत्ता के सपने मीडिया के जरिये दिखाए जाते हैं। इन सब के मेल से बनी वास्तविक और वैचारिक व्यवस्था सामाजिक बदलाव का पक्ष नहीं लेती। वैश्वीकरण से पहले भारत में मीडिया पर सरकार की मजबूत पकड़ हुआ करती थी और अक्सर गैर सरकारी पक्ष सुनने के लिए लोग बी.बी.सी. का सहारा लेते थे। अब मीडिया पर निजी क्षेत्र का दबदबा है जिसके नतीजे किसी से छुपे नहीं रह सकते। पिछले तीस साल के ऐतिहासिक घटनाक्रम ने यह भ्रम पैदा कर दिया है कि बाजार और समाज को इतिहास की जरूरत नहीं है। शीत युद्ध के अंत के साथ साथ 'इतिहास के अंत' की बात पश्चिम के कुछ देशों से भारत पहुँच गई। हेडन वाईट और कीथ जेन्किन्स जैसे प्रभावशाली उत्तर आधुनिकतावादियों ने इतिहास को विषय का दर्जा देने से साफ इनकार कर दिया है। उनके अनुसार इतिहासकारों का लिखा इतिहास मात्र कहानी है जिसमें फुटनोट इत्यादि जोड़कर इतिहासकार एक आडम्बर रचते हैं। इन विद्वानों का कहना है कि वास्तव में क्योंकि सभी कहानियों के सच बराबर होते हैं इतिहास में सत्य की खोज निरर्थक है। पिछले दो दशकों में इतिहासकारों ने इस आलोचना का बखूबी खंडन किया है। यहाँ इतना ही कहना काफी है कि अपना इतिहास सबको भाता है लेकिन इतिहास, एक विषय की तरह, निहित स्वार्थ की नजरों में खटकता है। दूसरी तरफ हिन्दुस्तानी समाज की जो दुर्दशा हमें नजर आती है उससे यह जाहिर हो जाता है कि शायद आज से ज्यादा इतिहास की जरूरत हमें कभी नहीं पड़ी। इतिहास पढ़े बिना जानना असंभव है कि हम इस मुकाम पर क्यों और कैसे पहुंचे? फर्क बस इतना है कि जब मेरे शोध छात्र, जिनमें से कुछ ऐसे हैं जो मुझे मेरे माजी की याद दिलाते हैं, मुझसे अपने भविष्य की बात करते हैं, मैं एक शरीफ रहबर की तरह, उन्हें पहले नौकरी और बाद में पी.एच.डी. करने की सलाह देता हूँ। बेशक इतिहास रहे न रहे रोटी, कपड़ा और मकान का इतिहास तो रहेगा ही! 2008 से शुरू हुई महामंदी, और उस से पैदा हुई सामाजिक और व्यक्तिगत परेशानियाँ, हमें इतिहास को दोबारा पढ़ने पर मजबूर करती है। आधुनिक और समकालीन पूंजीवाद का इतिहास पढ़े बिना हम इस महामंदी को समझ नहीं सकते और जोसेफ स्टिगलित्ज़ अपनी नयी किताब 'द प्राईस ऑफ इनिक्वालिटी' (The Price of Inequality), में हमें बताते हैं कि इस इतिहास को, और आधुनिक पूंजीवाद

के अर्थशास्त्र को, हमें कैसे समझना है। कई दशक पहले सी. राईट मिल्स ने अपनी बहुमूल्य कृति 'द सोशियोलॉजिकल इमेजिनेशन' (The Sociological Imagination), में हमें बताया था कि व्यक्ति, विचार और व्यक्तिगत जीवन का संदर्भ समाज होता है। इतिहास और समाज शास्त्र का काम उस दोराहे पर ध्यान देना है जहां जीवन और सामाजिक इतिहास मिलते हैं। सिनेमा एक चौराहा है जहाँ जाति, सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक जीवन मिलते हैं क्योंकि सिनेमा व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन दोनों से प्रभावित होता है और उसे देखने वालों के व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन दोनों को प्रभावित करता है। उसका चयन और अध्ययन इस लेख के दृष्टिकोण से अत्यंत आवश्यक है।

बहरहाल अपनी दास्ताँ गोई में आपको वापिस ले चलता हूँ। तीन मूर्ति में मेरे कुछ फेलो (Fellow) दोस्त रह चुके थे और मेरी खस्ता हालत से वाकिफ थे। काफी सोचने के बाद उनकी सलाह पर मैंने औपनिवेशिक हिन्दुस्तानी फौज के इतिहास का दामन छोड़ दिया और सिनेमा और सिनेमा इतिहास की राह पकड़ ली। अगर मैं ऐसा नहीं करता तो शायद तारीख की इस इबादतगाह में दाखिल न हो पाता। मैंने तय कर लिया कि कुछ रोज़ सिनेमा विश्लेषण की सैर करने के बाद सामाजिक और फौजी इतिहास की तरफ लौट जाऊँगा। उस वक्त मैं नहीं जानता था कि लौटना शायद मुश्किल ही नहीं नामुमकिन होगा। सिनेमा एक ऐसा विषय था जिसमें मेरी रूचि बहुत पुरानी, यूँ कहिये बचपन से, थी। मुझे बचपन से फिल्मों और फिल्मी संगीत का शौक था। इससे अच्छा क्या हो सकता था कि शौक को ही शोध का विषय बना लिया जाए। जीवन की यादों का सफर मैंने *नन्हा मुन्ना राही हूँ, देश का सिपाही हूँ, बोलो मेरे संग जय हिन्द* गाने से भले ही शुरू किया था लेकिन सिनेमा शोध का रास्ता मुश्किल था। सिनेमा पर भारतीय इतिहासकारों ने शून्य के बराबर काम किया था। जिन विद्वानों ने हिन्दुस्तानी सिनेमा पर शोध किया था उनमे अधिकांश भारतीय इतिहासकार नहीं थे। यह अजीब सी बात थी क्योंकि पश्चिमी देशों में तब तक सिनेमा स्टडीज के तहत सिनेमा इतिहास कई विश्वविद्यालयों में एक जाना माना विषय बन चुका था। 20वीं सदी में यूरोप की लगभग सभी सरकारों ने सिनेमा का अपने हित में भरपूर इस्तेमाल किया था। दूसरे विश्व युद्ध के बाद पश्चिमी देशों में फासीवादी, नाज़ी, यथार्थवादी और सोवियत सिनेमा का विश्लेषण नए स्तर पर होने लगा। ऐसे में हमारे इतिहासकारों पर इस चलन का प्रभाव क्यों नहीं पड़ा एक ऐसा सवाल है जिसके जवाब में शायद एक अलग निबंध लिखना पड़ेगा। भारत में अंग्रेजी

1 Laura Mulvey, Visual Pleasure and Narrative Cinema (1975)- Originally Published-Screen, Autumn 1975 pp. 6-18 [http://www.jahsonic.com/VPNC.htma]

और समाज शास्त्र के विद्वान प्रायः सिनेमा पर काम किया करते थे। भारत में सिनेमा पर पहली पी.एच.डी. पन्ना शाह ने बम्बई विश्वविद्यालय के समाज शास्त्र विभाग में 1949 में की थी। मैं नहीं जानता की दूसरा ऐसा काम कब और कहाँ किया गया। 1970 के दशक में कई देशों में नारीवादी आंदोलनों और नारीवादी विद्वानों ने सिनेमा अध्ययन पर गहरी छाप छोड़ी थी। अधिकांश पुरुष प्रधान सिनेमा में निहित पितृसत्ता, लौरा मलवी जैसी पैनी निगाह रखने वाली नारीवादी बुद्धिजीवियों की बदौलत, आलोचना का विशेष मुद्दा बन चुका था। मलवी ने एक बहुचर्चित लेख में सिद्ध किया है कि सिनेमा ज़्यादातर मर्दों के दृष्टिकोण से बनाया जाता है और उसका मकसद पितृसत्ता को मजबूत और सुरक्षित करना होता है।[1] सिर्फ इतना ही नहीं, मलवी ने यह भी सिद्ध कर दिखाया कि अधिकांश सिनेमा मे कहानी और कैमरा दोनों का इस्तेमाल पुरूषों को आनंद पहुँचाने के लिए किया जाता है। ऐसे सिनेमा में औरतें महज भोग की वस्तु से ज्यादा कुछ नहीं होतीं। आज यह बातें हमें सर्वमान्य लगतीं हैं लेकिन 1960 और 70 के दशकों में ऐसा कहना क्रांति से कम नहीं था। अगर हम, नए सिनेमा और कुछ अपवादों को छोड़ कर, हिन्दुस्तानी सिनेमा और टेलीविज़न पर गौर करें तो 1970 के दशक में किया गया मलवी का शोध आज भी प्रासंगिक लगेगा।

हिन्दुस्तानी इतिहासकार आम तौर पर सिनेमा को मिथ्या का दर्जा दे कर उसकी अवहेलना करते हैं। कुछ साल पहले तक हिंदी फिल्मों का मज़ाक उड़ाया जाता था लेकिन इतिहासकार इस बात पर गौर करने को तैयार नहीं थे कि यह फिल्में आवाम में इतनी मकबूल क्यों थीं? मैं उन दिनों कि बात कर रहा हूँ जब भारत में इतिहासकारों के प्रशिक्षण में प्राथमिक स्रोतों की पूजा एक खास जगह रखती थी। इतिहासकार इन स्रोतों में पाए जाने वाले यथार्थ की ओर ताकते रहते थे–इतिहास लेखन एक सफर था जो अभिलेखागार से शुरू और वहीं खत्म भी हो जाता था। इतिहास लेखन में भौतिकता पर ज़ोर दिया जाता था और इतिहास की खान अभिलेखागार मानी जाती था। उस हार्ड (hard) इतिहासलेखन के जमाने में सिनेमा पर शोध कार्य सॉफ्ट ऑपशन (soft option) जैसा लगता था। अंग्रेजी में सही कहते हैं–पड़ोसी के बाग की घास ज्यादा हरी दिखती है! सिनेमा इतिहास मानसिक दुनिया का इतिहास है। सिनेमा और उसकी लोकप्रियता को समझना समाज में प्रबल मनोविज्ञान को समझने जैसा है। सामाजिक विचारधारा और सांस्कृतिक आधिपत्य (cultural hegemony) की समझ इतिहास को समझने के लिए और समाज को बदलने के लिए जरूरी है। इसी वजह से 1922 और

1945 के बीच फासीवाद और नाज़ीवाद, और उनके विरोधियों, ने सिनेमा का भरपूर फायदा उठाया। मुसोलिनी और हिटलर फिल्मों के शौकीन थे और हिटलर तो घंटों अपने निजी सिनेमा हॉल में देर रात तक फिल्में देखा करता था। इस दौर में बनी चार्लिचैपलिन की *मॉडर्न टाइम्स* और *द ग्रेट डिक्टेटर* कौन भूल सकता है? इतिहासकार को यह मान कर काम नहीं करना चाहिए कि इंसान की कल्पना उसके यथार्थ से एकदम अलग होती है। मनुष्य और उसके समाज का जीवन और इनकी दिशा और दशा में यथार्थ और कल्पना का मिश्रण अनिवार्य होता है। सिनेमा की तरह सभी दस्तावेजों में यह कल्पना निहित होती है। माजी, हाल, मुस्तकबिल, नीतियाँ और तस्सवुर का मिला जुला असर इंसान के ज़हन को हमेशा मुतासिर किये रहता है। दस्तावेजों की तुलना में मानव कल्पना की संभावनाएं असीम होती हैं। इनमें साफ सुथरी भूमिका पाठ और निष्कर्ष नहीं होते। तस्सवुर की दुनिया को किसी फ्रेम में कैद नहीं किया जा सकता।

यहाँ आपको एक और वाकिआ सुनाता हूँ जो इस लेख की नींव में समाया हुआ है। सन 1999 में मैंने प्रसिद्ध मराठी लेखक किरण नगरकर की अंग्रेजी किताब *'ककोल्ड'* (Cuckold) पढ़ी। यह अत्यंत रोचक उपन्यास मध्यकालीन मेवाड़ के राजघराने के इतिहास पर आधारित है। किताब पढ़ने के बाद प्रोफेसर शीरीन रत्नागर, जो नगरकर को जानतीं थीं और 'ककोल्ड' पढ़ चुकी थीं, से इस उपन्यास पर एक गहरी चर्चा हुई। नगरकर ने यह किताब मध्यकालीन मेवाड़ के इतिहास का जबरदस्त अध्ययन करने के बाद लिखी थी और उपन्यास में सैनिक इतिहास की खास भूमिका है। 'ककोल्ड' कल्पना और इतिहास के विवाह का एक बेमिसाल नमूना है। कोई भी इतिहासविद् इस किताब से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता हालांकि कुछ लोगों का कहना है कि किताब जरुरत से ज्यादा लम्बी है। बहरहाल मार्च 2000 में मुंबई विश्वविद्यालय के अंग्रेजी विभाग ने नगरकर के अंग्रेजी साहित्य पर एक सेमिनार आयोजित किया जिसमे मैंने सामरिक दृष्टिकोण से 'ककोल्ड' पर एक लेख पेश किया। इस लेख में जाहिर किया गया है कि इतिहास लेखन को रसीला बनाने के लिए कल्पना अहम किरदार निभाती है। इतिहास और कप्लना का मिश्रण इतिहासलेखन में नयी जान फूंकता है और इतिहास के छात्रों में विषय के प्रति आस्था बढ़ाने का काम कर सकता है। 'ककोल्ड' के सन्दर्भ में मेरे लेख ने यह साबित करना चाहा कि साहित्य के बिना इतिहास और इतिहास के बिना साहित्य अधूरा है। कल्पना इन दोनों को ज्ञान, और सत्य, के हित में रेखांकित करती है। सेमिनार में लेख पसंद किया गया और नगरकर ने

खुद इसकी तारीफ की। कुछ हफ्तों बाद इस लेख का विकसित रूप *इकॉनोमिक एंड पोलिटिकल वीकली (EPW)* में प्रकाशित हुआ। संक्षिप्त में इतना कहना काफी होगा कि इस लेख में मैंने कहना चाहा कि इतिहास को अगर साहित्य की नज़र से पढ़ा जाए तो आम आदमी के लिए उसकी रोचकता में चार चांद लग सकते हैं। साहित्य की कल्पना शक्ति इतिहास में मौजूद संभावनाओं की धार तेज कर देती है और इतिहास में मौजूद तथ्य साहित्य को सच्चाई प्रदान करते हैं। अगर इतिहास को लोकप्रिय बनाना है तो उसे रोचक बनाना आवश्यक है – पहले रूचि और बाद में शोध, बहस इत्यादि। आज हर इतिहासकार यह मानता है कि तारीख़ तथ्यों पर आधारित एक दिलचस्प सच्ची कहानी होनी चाहिए। जहाँ तारीख़ में तथ्यों का वजन ज्यादा होता है वहीं साहित्य में कल्पनाशक्ति प्रभावी रहती है लेकिन इसका यह मतलब नहीं होता कि साहित्य पाठकों के समक्ष हमेशा एक मिथ्या ही पेश करता है। इतिहास की सार्थकता का विरोध किये बगैर इतिहासकार इतिहास लेखन में कल्पना घोल सकता है। ज़बान का धनी और कल्पना से संपन्न इतिहास ही रोचक इतिहास होता है – इतिहास सिर्फ तथ्यों की कड़ी नहीं होती जिसे अभिलेखागार में मौजूद दस्तावेजों में पाए जाने वाले तथ्यों से बुना जा सके। अगर रोचक इतिहास लिखना इतना आसान होता तो लाइब्रेरियन और अभिलेखागार का स्टॉफ सर्वश्रेष्ठ इतिहासकार साबित होते। इतिहास लेखन समाज शास्त्र ही नहीं, एक कला भी है।

मुझे बचपन से ऐतिहासिक साहित्य पढ़ने और ऐतिहासिक सिनेमा देखने का खास शौक रहा है। बहुत सालों तक मैं यह मानता रहा कि रोचक साहित्य, इतिहास में झाँकने की एक खिड़की है। साहित्य समकालीन होता है और साहित्यकार कहानी के ज़रिये हमारे सामने अपने समाज की तस्वीर बनाता है। क्या यह कहना गलत होगा कि बाल्जॉक, ह्यूगो, तोल्स्तोए, इब्सेन, टैगोर, प्रेमचंद और मारकेज जैसे लेखक सामाजिक इतिहासकार भी रहे हैं? अगर गोदान में फुटनोट होते तो क्या प्रेमचंद की ऐतिहासिक समझ की हम ज्यादा तारीफ करते? अगर टैगोर ने स्कूली शिक्षा पूरी की होती और ऑक्सफोर्ड से इतिहास में पी. एच.डी. ले आते तो क्या हम उनकी ऐतिहासिक समझ की ज्यादा कदर करते? क्या नेहरु की ऐतिहासिक समझ को सिर्फ इस लिए बेकार माना जाए क्योंकि वह पेशेवर इतिहासकार नहीं थे? अंततः शायद इतिहास में मेरी रूचि साहित्य और सिनेमा के शौक ने ही पैदा की। ऐसे में अगर मैं सिनेमा इतिहास की तरफ झुकने लगा तो शायद जीवन के सफर में गुज़रे हुए एक अहम मुकाम की ओर

वापस जाना शुरू किया। नगरकर की किताब पढ़ते वक्त और उनकी किताब पर आधारित निबंध लिखते हुए मेरी सोयीं हुईं इन्द्रियाँ मानो जाग उठीं और इतिहास को गैर–पेशेवर तरीके से समझने का मन करने लगा। सच कहूँ तो रांके, कार और ब्लॉख से मन ऊब चुका था। औपचारिक इतिहासलेखन एक पिंजरे जैसा मालूम होता था। यह बात और है कि यूरोपीय प्रबोधन काल से अब तक इतिहास को एक आधुनिक विषय बनाने में जिन लोगों ने अहम किरदार निभाया है उनमे अनेक विद्वान पेशेवर इतिहासकार नहीं रहें हैं। इतिहासलेखन तो 19वीं सदी में पेशा बना लेकिन यह कौन कहेगा कि उस क्रांतिकारी आधुनिक सदी से पहले इतिहास लिखा ही नहीं जाता था। ऐतिहासिक साहित्य से निकलते हुए रास्ते पर मैं तेजी से सिनेमा इतिहास की तरफ चलने लगा।

समकालीन युग में सिनेमा की तुलना धर्म से की जा सकती है। कार्ल मार्क्स के अनुसार धर्म आम आदमी की अफीम है। धर्म एक भ्रम है, एक झूठी चेतना है जो इंसान को सच्चे संघर्ष से दूर रखने का काम करता है, समाज में ठहराव लाता है और प्रगतिशील बदलाव का प्रतिरोध करता है। बेशक धर्म समाज के सभी वर्गों और जातियों को प्रभावित करता है लेकिन अंततः इसका फायदा समाज के शासक वर्ग और शक्तिशाली तबकों को हासिल होता है। जब तक मनुष्य एक सच्चा वैज्ञानिक साम्यवादी समाज नहीं बना लेता इस अफीम की जरूरत उसे पड़ती रहेगी। अक्सर लोग नहीं जानते कि मार्क्स धर्म को सिर्फ भ्रम नहीं मानते थे। पीटर वोर्ज्ले हमें याद दिलाते हैं कि मार्क्स का यह भी कहना था कि धर्म वह विश्वास है जिसके सहारे एक निष्ठुर समाज में इंसान आत्मा की तलाश करता है। यह धर्म नामक अफीम मनुष्य को पैदा होने से मौत तक आर्थिक और सामाजिक कठोरता का सामना करने की शक्ति प्रदान करती है। इतिहास में कई बार और कई देशों में धार्मिक नेताओं और धार्मिक पंथों ने प्रगति का पक्ष भी लिया है। दक्षिण अमेरिका में कुछ ऐसा ही काम लिबरेशन थिओलॉजी ने किया था। नाज़ी जर्मनी में भी कई प्रोटेस्टेंट पादरियों ने हिटलर की यहूदी विरोधी नीतियों का विरोध किया था। इनमें से कई जेल में डाल दिए गए और कईयों को गोली मार दी गयी थी। अल्जीरिया जैसे देशों में 1950 और 60 के दशकों में लोकप्रिय साम्राज्यवाद विरोधी युद्ध में धर्म आजादी का सहायक सिद्ध हुआ था।

इतिहास में धर्म के मुत्तालिक जो बातें की जाती हैं आधुनिक काल में सिनेमा के लिए भी की जा सकतीं हैं। खास तौर पर आजादी के बाद, सिनेमा के तेज विकास और बढ़ती लोकप्रियता के सन्दर्भ में, कहा जा सकता है कि भारतीय

समाज में धर्म के बाद सिनेमा ही आवाम के लिए सबसे बड़ी अफीम की तरह विकसित हुआ। भारत में कौन इनकार करेगा कि सहगल, तलत महमूद, मोहम्मद रफी, लता मंगेशकर और मुकेश के गाने माजी में और आज भी आवाम के दुख को कम करते हैं। इन गायकों की सदाबहार लोकप्रियता अगर कुछ सिद्ध करती है तो सिर्फ इतना कि आधुनिक भारतीय जीवन सिनेमा से प्रभावित रहता है। अगर हम सामाजिक इतिहास में निहित विचारों का इतिहास लिखना चाहते हैं तो बेहतर होगा कि सिनेमा के इस प्रभाव की समझ से अपने आप को वंचित न रखें। सिनेमा में मौजूद मेलोड्रामा देख हजारों दर्शकों ने आंसू बहाएं हैं और उनके दिल का दर्द कम हुआ है। एक मनोवैज्ञानिक का कहना है कि मुकेश की आवाज निम्न मध्यम वर्ग की औरतों के दुःख को बयान करती थी इसलिए मुकेश इतने मकबूल गायक थे। फिल्मों और फिल्मी संगीत में लोगों की आत्मा बस्ती है तभी तो हर मौके पर लोग इन्हें याद करते हैं। शादी हो या मृत्यु फिल्मी संगीत अनिवार्य है और इसका बखूबी चित्रण हमें अनुराग कश्यप की फिल्म *गैंग्स ऑफ वासेपुर* में देखने को मिलता है। सरदार खान और उसके बेटे दानिश खान की मय्यत में बैंड सहित प्रासंगिक और लोकप्रिय गाने बजाये जाते हैं। यह बात किसी से छुपी नहीं कि दुःख भरे गाने आवाम की पीड़ित आत्मा से जुड़ते हैं और इसलिए सदाबहार रहते हैं। रफी का गीत 'ये आंसू मेरे दिल की जुबान हैं', मैं रोऊँ तो रो दें आंसू, मैं हंस दूं तो हंस दे आंसू' यूँ ही नहीं मकबूल हुआ। एक किस्म के बॉलीवुड सिनेमा में प्यार और रोमांस इतना ज्यादा दिखाया जाता है क्योंकि वास्तविक भारतीय समाज में प्रेमियों को अक्सर शिकस्त का सामना करना पड़ता है। प्रेम आधारित फिल्मों और उनके गीतों की लोकप्रियता हमारे पारंपरिक रूढ़ीवादी समाज में उन उम्मीदों को दर्शाती हैं जो अधिकांश लोगों के जीवन में कभी पूरी नहीं होती। इन फिल्मों के जरिये प्रेमी जोड़े, सिनेमा हाल के अँधेरे में, उन संभावनाओं में खो जातें हैं जो भविष्य की सफलता या असफलता की तरफ इशारा करती हैं।

इतना कहते हुए हमें नहीं भूलना चाहिए कि यह सिनेमा प्रदर्शित प्रेम ज्यादातर प्रेम की परंपरागत और पितृसत्तात्मक परिभाषा में सिमटा रहता है। यह परिभाषा काफी शोध पश्चात समाज के प्रभावशाली तबकों और बॉक्स ऑफिस दोनों के मददे्नज़र बनायी गयी थी। बेशक आजादी से कई वर्ष पहले ज़ाती समस्या पर अनेक फिल्मे बनी थीं लेकिन आ़जादी के बाद जो मेलोड्रामा बॉलीवुड की फिल्मों पर राज करने लगा उसमे अछूत कन्या की छवि कमजोर पड़ गयी। बाद में एक

फिल्म *सुजाता* बनी जिसमे जातिप्रथा और छुआछूत पर कटाक्ष पेश किया गया। लेकिन इस फिल्म में नायिका गोद ली हुई अछूत लड़की दिखायी गयी है जिससे सवर्ण नायक को प्यार हो जाता है। फिल्म अपने आप को दलित नौकर और सवर्ण नायिका के संभावित प्रेम से बचा लेती है। अंत में सवर्ण परिवार की मालकिन और नायक की माँ, एक हादसे की वजह से, दलित नायिका को स्वीकार कर लेती है जब विज्ञान साबित करता है कि इंसानो का खून एक जैसा होता है। अन्तर जातीय विवाह, और वह भी दलित–सवर्ण सम्बन्ध, के झमेले से बचने के लिए *सुजाता* आखिर एक हादसे का सहारा लेती है। शुरू से अंत तक कहानी की बागडोर सवर्ण नायक और उसके परिवार के हाथ में रहती है। नायिका (अभिनेत्री नूतन) को एक मध्यम वर्गीय बहू बनने लायक दिखाया गया है। उसमे वह सब घरेलू गुण दिखाए गए हैं जो एक आदर्श हिंदू नारी को पितृसत्तात्मक समाज में सम्मान दिलाने के लिए जरूरी समझे जाते हैं। दूसरी तरफ घर की बेटी, जिसका माकूल नाम 'चंचल' (अभिनेत्री शशिकला), रखा गया है 'सुजाता' के विपरीत दिखाई गयी है। यह फिल्म अपने वक्त की प्रगतिशील फिल्म थी और इसे क्रांति की कसौटी पर परखना गलत होगा–लड़की अछूत ही सही लेकिन सुशील और गुणवती होनी चाहिए। आम तौर पर बॉलीवुड के अधिकतर निर्देशकों और लेखकों ने प्रेम को जाति और धर्म की सीमाओं में बांधे रखा। कमलहसन जब तक *चाची ४२०* में पासवान नाम के नायक बने और अपने मुसलमान दोस्त को एक सवर्ण उद्योगपति के यहाँ रसोईया रखवा पाए तब तक बॉलीवुड के प्रेम परदे पर सवर्ण नायकों को छाए हुए लगभग पचास साल हो गए थे। सलीम–जावेद के संवाद बोलता हुआ गरीब और कुंठित नायक, जो अक्सर अमिताभ बच्चन के रूप में *दीवार* जैसी फिल्मों में दर्शकों के सामने आता था, 1970 के दशक में सवर्ण था दलित कभी नहीं। अक्सर हिंदी सिनेमा में सामाजिक अन्याय के विरुद्ध लड़ने वाला नायक समाज के उसी तबके से आता दिखता है जो न्याय की अवहेलना करने में सबसे आगे रहता है। आज भी *दबंग, सिंघम* और *राऊडी राठौर* द्विज जातियों से आते हैं और उनका फर्ज़ होता है लोगों को इन्साफ दिलाना। तमाम प्राइम टाइम टीवी धारावाहिकों में 'कपूर', 'शर्मा', 'मेहता' और 'ठाकुर' पितृसत्तात्मक परिवार दर्शकों पर हावी रहते हैं और अगले दिन इन अमीर पूंजीपति खानदानों के मिथकों पर आधारित धारावाहिकों की चर्चा रेडियो के एफ.एम. चैनलों पर की जाती है। इस किस्म की निरंतर चर्चा दर्शकों की सोच को गैर राजनीतिक बनाने में सहयोग देती है और जातिप्रथा को मजबूत करती है। इसके अलावा यह कहानियां आम आदमी के ज़हन में ऊपर से लिखे और देखे जानेवाले इतिहास

को प्रबल करने में कामयाब साबित होती हैं।

लेकिन यह कहना गलत होगा कि समाज पर सिनेमा का सिर्फ दुष्प्रभाव ही रहा है। ऐसा मानना भी गलत नहीं होगा कि बढ़ते अलगाव वाले समाज में सिनेमा लोगों को मानसिक आराम पहुँचाता है। एक ज़माना था जब हमारा समाज देहात में फैला हुआ था और शहरी सभ्यता से दूर था। तब गाँव में नाटक, नौटंकी, तमाशा और रामलीला इत्यादि खेले जाते थे। आधुनिक शहरीकरण और औद्योगिक उत्पादन ने उस मध्यकालीन समाज की रुपरेखा बदल डाली और एक नए सामाजिक अलगाव की रचना की। धर्म और सिनेमा की सामाजिक भूमिका हमें इस पृष्ठभूमि में ढूंढनी चाहिए। बेशक सिनेमा, धर्म की तरह, इंसान के रोजमर्रा जीवन के जख्मों का मरहम है। आम जनता के लिए जो काम धर्म 19वीं सदी तक शायद अकेला करता था आज सिनेमा और टेलीविजन की मदद से करता है। शुरू से अब तक धर्म और सिनेमा का उतना ही गहरा संबंध रहा है जितना इतिहास और सिनेमा का। यही वजह है कि सिनेमा के प्रारंभिक दौर से ही सिनेमा निर्माताओं और निर्देशकों ने अपने बहुत से विचार सिनेमा परदे पर लोकप्रिय धार्मिक कहानियों और इतिहास प्रसंग के माध्यम से दर्शाए हैं। औपनिवेशिक काल का भारतीय सिनेमा, औपनिवेशिक सेंसरशिप के दौर में, अक्सर धर्म की ओट में राष्ट्रवाद और समाज सुधार का संदेश लाया करता था। फाल्के जैसे सिनेमाविद् और फिल्म निर्माता के लिए सिनेमा हॉल और पर्दा दोनों एक साथ राष्ट्र हित और सांप्रदायिक सद्भाव लिए काम करते थे। अपने सिनेमा के जरिये फाल्के एक नयी हिंदू–मुस्लिम संस्कृति और हिन्दुस्तानी ज़बान का प्रचार करना चाहते थे। उनका मानना था कि सिनेमा हॉल में सामूहिक तौर पर बैठ कर फिल्म देखने से समाज में जाति का प्रभाव और धार्मिक अलगाव कम हो सकता है। यहाँ इस बात पर गौर करना चाहिए कि जहाँ सिनेमा हॉल लोगों को शायद करीब बैठाने में सफल रहा वहीं शायद बहुत सी फिल्मों ने समाज में साम्प्रदायिकता और जातिवाद को बढ़ावा दिया। ऐसी बातें सिर्फ हिंदुस्तान के संदर्भ में ही सच नहीं है। अमरीका और यूरोप के सिनेमा का भी धार्मिक विषयों से गहरा ताल्लुक रहा है। पश्चिमी सभ्यता, गोरी नस्ल और ईसाई धर्म को श्रेष्ठ दिखाने में पश्चिम के सिनेमा का कोई छोटा योगदान नहीं रहा। ईसा मसीह यकीनन एशियाई थे लेकिन फिरंगियों की भांति श्वेत थे यह कौन जानता है? आज भी उन करोड़ों लोगों के सामने, जो कभी पश्चिमी देशों की सैर नहीं कर पाएंगे, पश्चिमी सिनेमा पश्चिम को एक सुनहरे सपने की तरह पेश करता रहता है। मनुष्य की सांस्कृतिक, धार्मिक और

सामाजिक अस्मिता में गहरा संबंध हमेशा से ही रहा है। फिर सिनेमा इस रिश्ते से दूर कैसे रहे? *जय संतोषी माँ* जैसी अत्यंत लोकप्रिय और पैसा कमाने वाली फिल्में और टी वी धारावाहिक *रामायण* बनाने वाले फिल्म निर्माताओं से बेहतर इस संबंध को कौन समझ सकता है? फाल्के के ज़माने में बनी धर्म आधारित फिल्मों में और आज कल के धार्मिक संदर्भ में जमीन आसमान का फर्क है। तब जमाना हिंदुस्तानियत का था और अब शायद, कई रूपों में, हिंदुत्व का। राष्ट्रवाद के बदलते स्वरुप से सिनेमा कभी भी अप्रभावित नहीं रह सका है।

दूसरी तरफ आलोचकों का यह भी मानना है कि अधिकांश सिनेमा हमारे समाज में शासक वर्ग के आधिपत्य के हित में काम करता है। विचारधारा और धर्म की तरह सिनेमा भी दोधारी तलवार है। समाज में जो वैचारिक और वास्तविक संघर्ष निरंतर चलता रहता है, सिनेमा उसे अभिव्यक्त करता है। चाहते हुए भी सिनेमा बनाने वाले कभी भी इस संघर्ष से अपने आप को अलग नहीं रख सकते। आजकल के टी वी धारावाहिकों में गरीब और नौकर आम तौर पर नहीं दिखाए जाते। धारदार वर्ग संघर्ष और जाति समस्या में कौन पड़े? अगर किसी ने पुलिस में रिपोर्ट या अदालत में याचिका दायर कर दी तो मुमकिन है प्रोग्राम ही रद्द कर दिया जाये। लेकिन वर्ग संघर्ष को अदृश्य करने से काम नहीं चलेगा। एक तरफ चौबीस घंटे समाचार चैनलों पर भ्रष्टाचार इत्यादि पर बहस चलती है तो दूसरी तरफ सामाजिक समस्याओं से बेखबर टी वी सीरियल परिवारों को अपने आप में सिमटे रहने का संदेश देते हैं। टी वी पर विदेशी सीरियल भी छाए रहते हैं और घरों में रिमोट बच्चों के हाथों में ज्यादा और बड़ों के पास कम नज़र आते हैं। ऐसे में सामाजिक संघर्ष दर्शाना या छिपाना दोनों ही सिनेमा बनाने वालों के लिए राजनीतिक पसंद की बातें हो जाती हैं। अक्सर सुनने में आता है कि सिनेमा समाज का आईना है। लेकिन ऐसा कहना गलत है क्योंकि आईने में असलियत उलटी नज़र आती है जबकी सिनेमा या तो सामाजिक असलियत दिखाता है, नहीं तो कम–से –कम अभिव्यक्त जरूर करता है। बेहतर होगा अगर हम सिनेमा को सत्ता का या सत्ता के विरुद्ध एक पैगाम माने। समाज के भविष्य के लिए जो संघर्ष समकालीन समाज में चलता रहता है बाकी मीडिया की तरह सिनेमा में भी प्रकट होता है। वर्ग संघर्ष, जाति संघर्ष, महिला संघर्ष, पितृसत्ता, पूंजीवाद और पर्यावरण इत्यादि यह तमाम मुद्दे सिनेमा के परदे पर छाए रहते हैं। जहां सिनेमा के माध्यम से साम्राज्यवाद, पूंजीवाद, सामंतवादी मूल्य, सवर्ण दबदबा, पितृसत्ता, उपभोगवाद, ग्लैमर और सामाजिक रूढ़िबद्ध धारणाओं को बढ़ावा दिया

जाता है वहीं सिनेमा प्रगतिशील मूल्यों और सामाजिक क्रांति का पैगाम भी लेकर आता है। यथार्थवादी, क्रांतिकारी, आलोचनात्मक और नारीवादी सिनेमा, जिसे कभी–कभी सामानांतर सिनेमा भी कहा जाता है, लोगों को एक नए और अलग भविष्य की कल्पना करने पर मजबूर करता है। *अंकुर, निशांत, अर्ध सत्य, सुबह, तारे जमीन पर, फायर, खामोश पानी, पान सिंह तोमर और गैंग्स ऑफ वासेपुर* जैसी फिल्में दर्शकों को बहुत कुछ सोचने पर मजबूर करती हैं। वक्त के साथ सिनेमा बदल रहा है और कई संवेदनशील फिल्म निर्देशक–निर्माता लघु फिल्मों और इन्टरनेट के सहारे हमारे समाज और राजनीति के कड़वे सत्य दर्शकों तक पहुंचाने में कामयाब हो गए हैं। यहाँ आश्विन कुमार कृत *इंशाहअल्लाह कश्मीर* जैसी सम्मानित वृत्त–चित्र को याद करना होगा। सिनेमा का पर्दा सिर्फ वह जगह नहीं जहां आम आदमी का गुस्सा व्यवस्था के खिलाफ अमिताभ बच्चन, सलमान खान या अजय देवगन के 'ऐंगरी यंग मेन' वाले किरदार में निकल जाता है। अंग्रेजी में इस मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया को कैथार्सिस (Catharsis) कहते हैं। लेकिन सिनेमा सेफ्टी वॉल्व से बढ़ कर है। समाज के बदलते संदर्भ में साहित्य के समान सिनेमा भी व्यतिगत और सामाजिक प्रेरणा का स्रोत भी हो सकता है। यही वजह है कि सरकार और कोर्पोरेट मिडिया आलोचनात्मक सिनेमा के खिलाफ साजिश रचने से बाज नहीं आते। राष्ट्रविहीन राष्ट्रवाद और राष्ट्रीय सुरक्षा की धुन में खलल डालने वाली फिल्मों को सेंसर बोर्ड के रहमों करम पर छोड़ दिया जाता है। उन्हें वयस्क (A) प्रमाणित करने का मतलब है दूरदर्शन के दर्शकों को उन्हें देखने के अनुभव से वंचित रखना और सरकारी सिनेमा घरों में उनका न दिखाया जाना। निजी मल्टीप्लेक्सों में कानूनन एक पर्दा लघु सिनेमा इत्यादि के लिए अरक्षित होता है लेकिन इस देश में पूंजीवादी कानून मानते कहाँ हैं? बड़े परदे पर, और टी वी में *सी.आई.डी.* जैसे मंद बुद्धि कार्यक्रमों में, भयंकर हिंसा दिखाई जाती है और हिंसा को वैधता प्रदान की जाती है लेकिन कोई फिल्म अगर सरकारी हिंसा का वर्णन भी करे तो उसे वयस्क (A) प्रमाणित कर दर्शकों से दूर रखा जाता है। लिहाजा कई जुझारू फिल्म निर्देशक–निर्माता आजकल अपनी फिल्में नेट पर रिलीज भी करते हैं और बेचते भी हैं।

मेरे सामने सिनेमा को ऐतिहासिक दृष्टिकोण से समझने की राह पर अनेक सवाल थे जिनका जवाब सिर्फ शोध के माध्यम से दिया जा सकता था। यही उम्मीद लेकर मैं सिनेमा अध्ययन की दहलीज पर आया था। सिनेमा की लोकप्रियता

का राज क्या है? सिनेमा शब्द में टेलीविजन, दूरदर्शन, ऑडियो विजुअल मीडिया इत्यादि शामिल करता हूँ ताकि बार–बार इतने शब्दों का इस्तेमाल न करना पड़े। किस किस्म का सिनेमा लोग ज्यादा पसंद करते हैं? सिनेमा से इतिहास और विचारधाराओं के मुतअल्लिक लोग क्या सीखते हैं? क्या अधिकांश सिनेमा शासक वर्ग की साजिश है? सिनेमा और साहित्य में क्या संबंध है? क्या सिनेमा भी एक किस्म का साहित्य है जिसे दर्शक और विद्वान साहित्य की भांति पढ़ सकते हैं? क्या सिनेमा इतिहास दर्शाने की अलग विधि है या सिनेमा इतिहास का मात्र सहायक साधन है? क्या सिनेमा और साहित्य में कोई फर्क नहीं और क्या सिनेमा और कल्पनाशक्ति से लिखा गया इतिहास एक जैसा है? इन सवालों का संतोषजनक उत्तर देना न दस साल पहले मेरे लिए आसान था न आज है। यह सारे सवाल सिनेमा अध्ययन से हमेशा जुड़े थे, जुड़े रहते हैं और जुड़े रहेंगे। ऐसा कहना कि कोई एक किताब ऐसी है जो इन प्रश्नों का एक सही उत्तर देती है, गलत होगा। सिनेमा शोध का कोई पाठ्क्रम नहीं है न ही बनाया जा सकता है। सिनेमा तो छोड़िये, आजकल तो समाज शास्त्र और इतिहास शोध के बारे में भी अक्सर यही कहा जाता है। जानने की सीमाऐं अब शायद इस तरह टूट चुकी हैं कि फिर उन्हें अभेद्य मोटी दीवारों की भांति खड़ा करना नामुमकिन है। गणित की भांति बाजार में सिनेमा पढ़ने की कोई पाठ्य पुस्तक नहीं मिलती। इस लेख में एक पाठ्य पुस्तक खोजने वाले पाठक जरूर निराश होंगे लेकिन वह लोग जो मेरी तरह ऊपर दिए गए सवालों के उत्तर ढूँढने में लगे रहते हैं शायद इस प्रस्तुति से कुछ हासिल कर पायेंगे।

अपनी बात खत्म करते हुए इतिहास और सिनेमा के संबंध के बारे में बतौर निष्कर्ष कुछ अहम बिंदु आपके सामने रखना चाहूंगा।

1) देखा जाए तो सिनेमा कैसा भी हो हमेशा ऐतिहासिक होता है। हर किस्म का सिनेमा एक कहानी बयान करता है और हर कहानी का विषय अतीत से जुड़ा होता है। चाहे कहानी व्यक्तिगत, सामाजिक या खुले तौर पर ऐतिहासिक हो उस कहानी का मकसद माजी के किसी हादसे का ब्यौरा देना होता है। जैसे कोई भी वार्तालाप बीते हुए वाक्यों के बिना बेमाने होते हैं वैसे ही फिल्म हादसों या यादों की एक जंजीर होती है। इस जंजीर से अगर एक भी कड़ी हटा दी जाए तो जंजीर टूट जाती है। चाहे फिल्म यादों का सहारा ले या लोकप्रिय ऐतिहासिक तथ्यों पर आधारित हो ज्ञान के अन्य माध्यमों की तरह इतिहासकार को उसे 'पढ़ना' चाहिए। हर फिल्म में एक

खास ऐतिहासिक दृष्टिकोण मौजूद होता है और 20वीं सदी के शुरूआत से सिनेमा इतिहासकार (जिन्हें हम फिल्म हिस्टोरियन कहते हैं) हमें याद दिला रहे हैं कि इतिहासकारों को फिल्मों के बारे में संजीदगी से सोचना चाहिए। 20वीं सदी के आरम्भ से अब तक सिनेमा आवाम की मानसिकता को बहुमुखी तौर पर प्रभावित करता आया है। यह एक ऐसा सच है जिसे साबित करने के लिए समाजशास्त्रियों के प्रिय फुटनोटों की जरुरत महसूस नहीं होती। ऐसे में अगर हम लोकप्रिय मानसिकता का इतिहास, जो हमेशा सामाजिक इतिहास का एक अटूट हिस्सा होता है, लिखने की कोशिश सिनेमा की अवहेलना करते हुए करें तो शायद वह इतिहास कम–से–कम हमारे युग में खोखला सिद्ध होगा। सामाजिक, राजनैतिक और तकनीकी विकास के साथ इतिहास के स्रोत और इतिहास को दर्शाने के तरीके बदल जाते हैं। सिनेमा को अन्य मीडिया की तरह हमें इस सन्दर्भ में बेखौफ देखना होगा।

2) आजकल शायद कोई भी इतिहासकार सिनेमा की तरफ पूरी तरह से उदासीन नहीं होता। आम तौर पर इतिहासकार सिनेमा का विश्लेषण दो प्रमुख तरीकों से करते हैं। पारंपरिक इतिहासलेखन सिनेमा को अप्रत्यक्ष इतिहास का दर्जा देता है। ऐसे दृष्टिकोण में सिनेमा को ज्यादातर ऐतिहासिक स्रोत की तरह देखा जाता है। ऐसा नज़रिया रखने वाले हर किस्म के सिनेमा, लेकिन ज्यादातर वृत्त–चित्र सिनेमा, को अभिलेखागार बना कर देखते हैं। इस पद्धति में सिनेमा इतिहास के अनेक स्रोतों में से महज एक स्रोत बन कर रह जाता है और इतिहासकार की प्राथमिकताएं लिखित इतिहास पर केन्द्रित रहती हैं। एक ज़माना था जब इतिहासकार सिनेमा को नीची नज़र से देखा करते थे लेकिन विशेष तौर पर दूसरे विश्व युद्ध के बाद हालात बदल गए और कम–से–कम पश्चिमी देशों में इतिहास लेखन ने सिनेमा पर ध्यान देना शुरू कर दिया। इसका एक सबब (1920-45) के दौरान फासीवादी और नाज़ीवादी सिनेमा का असंख्य लोगों पर साफ नज़र आने वाला प्रभाव था। दूसरी तरफ दूसरे विश्व युद्ध में कैमरा जिस तरह इस्तेमाल किया गया उससे यह साबित हो गया कि सिनेमा इतिहास का अहम् स्रोत भी है और खुद यथार्थवादी इतिहास भी। लिहाजा इस महायुद्ध के बाद एक नए किस्म के वामपंथी यथार्थवादी सिनेमा ने जन्म लिया जिसका असर आज भी सिनेमा पर बरकरार है। बशर्ते सरकार दखलंदाजी न करे, आप

आज यह सब आसानी से यूट्यूब, सी डी या मल्टीप्लेक्सों के पर्दों पर देख सकते हैं।

3) पारंपरिक इतिहासलेखन के विरुद्ध सिनेमा इतिहासकार सिनेमा को इतिहास की तरह 'पढने' की सलाह देते हैं। इन विद्वानों का मानना है कि अतीत को जानने और बयान करने के कई तरीकों में सिनेमा की गिनती की जा सकती है। रोजेनस्टोन जैसे सिनेमा इतिहासकार सिनेमा को इतिहास के स्रोत मानने पर नहीं रुकते। उनके मुताबिक समाज में कई किस्म के ऐतिहासिक कथन (नैरेटिव) हमारी ऐतिहासिक समझ बनाने में एक साथ काम करते हैं। मौखिक इतिहास, ऐतिहासिक साहित्य, दस्तावेज और सिनेमा अलग–अलग ऐतिहासिक कथन के नमूने हैं और इतिहासलेखन में इनका स्थान बराबर होता है। इस परिप्रेक्ष्य में सिनेमा को एक किस्म का इतिहास ही माना जाता है और सिनेमा से जुड़े इतिहास लेखन में उसे खास प्राथमिकता प्रदान की जाती है। सोर्लिन के मुताबिक गैर ऐतिहासिक सिनेमा हमारी ऐतिहासिक जानकारी और समझ के लिए निहायत जरूरी है क्योंकि ऐतिहासिक सिनेमा का रुझान उसे सही मायने में कृत्रिम बनाता है। सोर्लिन के स्वर को ध्यान से सुने तो साबित होता है कि कोस्ट्यूम ड्रामा (costume drama) सही मायने में इतिहास नहीं होता इसलिए उसे पढ़ना आसान है। ऐसे सिनेमा का विश्लेषण करना उपजाऊ नहीं होता। वक्त बर्बाद न करते हुए हमें यह जानना चाहिए की ऐतिहासिक सिनेमा के निर्माता इसे क्यों और किस संदर्भ में बनाते हैं। ऐसा करने से सिनेमा और इतिहास का संबंध अधिक दिलचस्प और फायदेमंद बनेगा। ऐतिहासिक सिनेमा की तुलना में वह सिनेमा जो संपादन के बावजूद उन सब चीजों को दिखाता है जिन पर कैमरा अनायास केन्द्रित हो जाता है ऐतिहासिक दृष्टिकोण से अधिक लाभदायक सिद्ध होता है। सोर्लिन तो यहाँ तक कहते हैं कि सिनेमा इतिहासकार को, अगर मुमकिन हो, फिल्म की पूरी रील देखनी चाहिए क्योंकि फिल्म निर्देशक और संपादक इस फुटेज से ऐसा बहुत कुछ निकाल देते हैं जो इतिहासकार के लिए बहुमूल्य होता है।

4) बिना स्रोतों के इतिहास लेखन नामुमकिन है और बिना इतिहास लेखन के स्रोत नहीं होते। आधुनिक इतिहासकार और समाजशास्त्रियों के लिए आज भी स्रोतों के संतुलन और आलोचनात्मक मूल्यांकन पर आधारित इतिहास बीते हुए सच को बयान करता है। ऐसा करते हुए इतिहासकार

को यह कहने में जरा संकोच नहीं होता कि उसकी शोध पद्धति गुजरे हुए कल में दूध का दूध और पानी का पानी करने में सक्षम सिद्ध होती है। दूसरी तरफ उत्तर आधुनिक विद्वान, जिनमें हेडन वाईट, कीथ जेन्किन्स और एलन मंस्लो जैसे अनेक इतिहासकार शामिल हैं, आधुनिक इतिहास लेखन को इतिहासकारों की साजिश मानते हैं। इन भाषा विद्वानों का मानना है कि इतिहास और साहित्य में कोई फर्क नहीं होता और इनमे जो फर्क इतिहासकारों द्वारा दर्शाया जाता है वह आखिरकार बेबुनियाद है। इतिहासकार कल्पना और भाषा के मिश्रण से जो कहानी लिखते हैं, उसे उन्होंने संस्थागत तौर पर इतिहास का दर्जा दे डाला है। इन विद्वानों का जोरदार दावा है कि सच में इतिहास लिखना नामुमकिन है क्योंकि इतिहासकार लाख कोशिशों के बावजूद माजी में कभी लौट नहीं सकते। बीता हुआ समय महज एक काल्पनिक नजारा है जो इतिहासकार शब्दों के रंगों से बनाता है और, जाहिर है, सारी कल्पनाएँ बराबर होती हैं। ऐसे फलसफे को अंग्रेजी में सब्जेक्टिव रेलेटिविज़्म कहा जा सकता है– यानी तथ्य और सच की परिभाषा सिर्फ उसे बयान करने वाले के सांस्कृतिक या राजनीतिक झुकाव पर निर्भर होती है।

स्रोत सूची

1) पन्ना शाह, 1950, *द इंडियन फिल्म, द मोशन पिक्चर सोसाइटी ऑफ इंडिया,* बॉम्बे।

2) राजाध्यक्ष और विल्लमन (सम्पादित), 2004, *इनसाइक्लोपीडिया ऑफ इंडियन सिनेमा,* ओ.यु.प.।

3) इ. थोरवल, 2000, *द सिनेमाज ऑफ इंडिया,* मैकमिलन।

4) अरविन्द राजगोपाल, 200, *पॉलिटिक्स आफ्टर टेलीविजनः हिन्दू नैशनलिस्म एंड द रीशेपिंग ऑफ द पब्लिक इन इंडिया,* सी.यु.प.।

5) एस एस चक्रवर्ती, *1998, नेशनल आइडेंटिटी इन इंडियन पापुलर सिनेमा 1947–1987,* ओ.यु.प.।

6) मर्सिया लैंदी (सम्पादित), 2001, *द हिस्टोरिकल फिल्मः हिस्ट्री एंड मेमोरी इन मीडिया,* लन्दन।

7) एडवर्ड सइद, 2003, *द एन्ड ऑफ द पीस प्रोसेस,* पेंगुइन।

8) एलन मंस्लो, 2008, *डीकंसट्रकटिंग हिस्ट्री,* रूटलेज।

9) कीथ जेन्किन्स, 2009, *ऐट द लिमिट्स ऑफ हिस्ट्रीः एसेज ओन थ्योरी एंड प्रैक्टिस,* रूटलेज।

10) अनिरुद्ध देशपांडे, 2009, *क्लास पॉवर एंड कांशसनेस इन इंडियन सिनेमा एंड टेलीविजन,* प्राइमस, (दूसरा संस्करण 2013)।

11) साइमन गुन और लूसी फेयर, 2012, *रिसर्च मेथड्स फॉर हिस्ट्री,* एडिनबरा।

12) टी.एम. रामचंद्रन (सम्पादित), 1985, *सेवेंटी यीअर्स ऑफ इंडियन सिनेमा 1913–1983* बॉम्बे।

13) बी फेडरर और एल लुत्जे (सम्पादित), 1985, *द हिंदी फिल्म एजेंट एंड रीएजेंट ऑफ कल्चरल चेंज,* दिल्ली।

14) रवि वासुदेवन, 2000, *मेकिंग मीनिंग इन इंडियन सिनेमा,* ओ.यु.प.।

15) पी.पी पराशर, 2002, *रेट्रोस्पेक्टिव हेलूसीनेशन इको इन बॉलीवूड मोडरनिटीज,* नई दिल्ली।